कानूनों के जंगलराज में उलझती, भटकती, बरबाद होती जिंन्दगियाँ

कानूनों के जंगलराज में उलझती भटकती बरबाद होती जिंन्दगीयाँ

लेखन व संकलन : नारायण साँई

(यह लेख नारायण साँई द्वारा करनाल जेल में लिखा गया । इसके भीतर जो संदर्भ दिये हैं वह उस जेल में रहनेवाले एक कैदी द्वारा अखबारों में छपे लेख द्वारा संग्रहित किए गए थे जो साँई जी को उसने पढने दिये थे ।)

प्रथम संस्करण

प्रति : १०००

वर्ष : २०१६

मूल्य : ५ रू.

प्रकाशक : संत श्री नारायण साँई लोक सेवा ट्रस्ट

एवं ओजस्वी प्रकाशन

कानूनों के जंगलराज में उलझती, भटकती बरबाद होती जिंन्दगियाँ

* क्या सुव्यवस्था के लिए कानून बनाना ही एक मात्र उपाय है ?

* क्या कडे, कठोर कानून बनाने से ही सुधार होता है ?

* क्या वह देश या समाज श्रेष्ठ है जो अनेकों तरह-तरह के कानूनों के जंगलों में जीता है ?

* क्या सामाजिक समस्याओं का समाधान कानून बनाने से ही होता है ? या हो गया ? हो पायेगा ?

* कानूनों का दुरुपयोग करनेवालों पर भी क्या कोई कानून लागू होता है ?

कानून का दुरुपयोग करने के कारण अनेकों लोग निर्दोष होने के बावजूद जेलों में अपराधियों की नाई कैदी बनकर सजा काट रहे हैं उनकी रक्षा के लिए शीघ्र रिहाई के लिए कोई व्यवस्थाएँ क्यों नहीं है ?

* अधिकतर वकीलों ने विचाराधीन कैदियों को लूटा है, अनापशनाप रुपया लिया है, पर जिस कार्य के लिए लिया, वह नहीं किया तो क्या उनके इस दुर्व्यवहार के लिए कोई कानून नहीं है ? आरोपियों के अधिकारों के लिए कानून क्यों बने नहीं ?

* आरोपियों का शोषण होते रहने के बावजूद कोई कानून उनकी सुरक्षा का, अब तक क्यों नहीं बना ?

❊ क्या वकील मतलब कैदियों/आरोपियों को लूटने की मशीन !

❊ सरकारी वकील सरकार से पैसा तो लेते हैं पर आरोपियों के केस में जितना ध्यान देना चाहिए, नहीं देते । इस कारण अनेकों निर्धन आरोपी/कैदी जिन्हें मुक्त हो जाना चाहिए था, सिर्फ उन वकीलों की लापरवाही, बेदरकारी के कारण सजा काट रहे हैं ! ये सच्चाई है ।

न तो उन सरकारी वकीलों ने ठीक से केस की स्टडी की, न पर्याप्त बहस की, न आरोपियों के बचाव के मुद्दे कोर्ट के समक्ष पेश किए, इसीलिए कोर्ट ने एक तरफा निर्णय देकर सजा सुना दी । यह हकीकत है । निचली कोर्ट ने सजा सुनाई तो अनेकों आरोपी ऐसे हैं कि उनके पास उच्च न्यायालय में निजी वकील रोकने का पैसा ही नहीं है । और अधिकतम केसों में निचली कोर्ट के निर्णय को ही उच्च कोर्ट बरकरार रखती है । क्योंकि सूक्ष्मता से विश्लेषण करने का समय ही कई न्यायाधीशों के पास नहीं है । इस तरह आरोपी मार खाता ही जाता है । उच्च या उच्चतम न्यायालयों में भी अगर वह सरकारी वकील रखता है तो ईमानदारी से काम करनेवाले सरकारी वकील गिने-चुने हैं जो अपना कार्य पूरी दक्षता से करते हैं । अन्य वकील सरकार से धन तो लेते हैं पर अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन हैं । उनकी उदासीनता का खामियाजा उन निर्धन, अशिक्षित, लाचार तथा अधिकतर गरीब कैदियों व उनके परिवारों को सालोंसाल भुगतना पड़ता है । आखिर यह स्थिति बदलनी ही

चाहिए ।

वकील संगठनों द्वारा आए दिन हड़तालों के नाम पर काम बन्द करना–सीधे तौर पर न्यायिक प्रक्रिया पर ही हमला करना है । इसका नुकसान होता है विचाराधीन कैदियों को व उनके परिवारों को ! साथ ही न्यायालयों का समय भी बरबाद होता है । हड़तालों के कारण कामकाज बंद रहना केसों को निलंबित करता है । आखिर ऐसे कइ कारण हैं जिनसे केसों का शीघ्र निपटारा करने में न्यायालयों को दिक्कत पड़ती है ।

सुप्रीम कोर्ट के एक बुद्धिमान और सुलझे हुए वकील हैं– विमल वधावन, जिनके विचार–लेख पंजाब केसरी अखबार में अक्सर छपते रहते हैं । उनका कहना है कि हमारे देशों में लाखों मुकदमें सरकारी विभागों के खिलाफ चल रहे हैं । क्या आज तक सरकार के किसी मंत्रालय ने भी यह सुनिश्चित कराने का प्रयास किया है कि जिन मुकदमों में सरकार हारती है, उनमें किस अधिकारी की गलती के कारण नागरिकों को न्याय की लड़ाई लड़नी पड़ी ? क्या ऐसे अधिकारियों के विरुद्ध कभी अनुशासनात्मक कार्रवाई की गई ? ऐसा आरम्भ कर दिया जाए तो अधिक संभावना यही होगी कि कोई अधिकारी किसी नागरिक को अनुचित रुप से तंग नहीं कर पायेगा । इस प्रकार अदालतों में जानेवाले मुकदमों की संख्या स्वतः ही कम हो जायेगी । इस तरह केसों का बोझ हल्का हो सकता है ।

इसीलिए एक अच्छी न्याय व्यवस्था के लिए कानूनों,

अदालत के कमरों, साधनों और यहाँ तक कि वकीलों और न्यायाधीशों की पोशाकों से अधिक आवश्यक और सुन्दर है कि हमें न्यायिक संस्कृति का निर्माण करना । चाहिए जिसका मूल आधार नैतिकता और ईमानदारी हो । (देखिए पंजाब केसरी पेज नं. ६ दि. ११-८-२०१४)

न्याय व्यवस्था में कितने न्यायाधीश ऐसे हैं जो पूरे अनुशासन के साथ निर्धारित समय पर अदालत में उपस्थित होते हैं और पूरे दिन निर्धारित समय पर अदालत छोड़ते हैं ? यदि प्रत्येक न्यायाधीश अपने कार्य को ही पूजा समझ ले तो स्वाभाविक रूप से लम्बी अवधि की तिथियाँ निर्धारित करने की परम्परा समाप्त हो जायेगी । कितने न्यायाधीश होंगे ऐसे कि जो प्रतिदिन की फाइलों के एक दिन पूर्व पढने का प्रयास करते हैं ? कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि न्यायाधीशों से अधिक महेनत केस तैयार करने के लिए वकीलों को करनी पडती है ।

आखिर न्यायाधीश भी एक इंसान ही है । और इंसान से गलती होती है । कई न्यायाधीशों द्वारा कई बार गलती हो जाती है । वे गलत फैसला भी दे देते हैं और इस तरह न्यायालय द्वारा दिये जानेवाले अन्यायकारी फैसलों से कितने निर्दोष बेवजह सजा भुगतते हैं । जबकि न्याय का सिद्धांत यह कहता है कि हजार दोषी भले छूट जाएँ पर एक निर्दोष को सजा नहीं होनी चाहिए । पर आज का माहौल कुछ ऐसा हो गया है कि अनकों निर्दोष विचाराधीन बंदी या कैदी तो जेलों में हैं और कई दोषी

सेटिंग करके निकल जाते हैं या मनी मसल्सपावर का उपयोग करके व्हाइट कोलर बने रहते हैं और इस तरह प्लानिंग करके क्राइम वर्षों तक करते रहते हैं कि पकड़ में नहीं आते । क्या ये उचित है ? क्या ऐसा होना चाहिए ? क्या एक बेहतर शिक्षित देश के लिए ऐसी व्यवस्थाएँ कितनी शर्मनाक हैं ?

हमारे देश की सारी व्यवस्थाएँ जिस प्रकार असफलताओं का दोषारोपण एक-दूसरे पर करती नजर आती है, क्या इनमें से किसी एक घटक ने भी कभी अपने कर्तव्यों के पालन पर गंभीर चिन्तन-मनन और क्रियान्वयन का विचार किया ?

आम आदमी को अदालतों की चमक-दमक या वकीलों की शान देखने का कोई शौक नहीं है, लोगों को न्याय चाहिए, वह भी तुरन्त और सस्ता ! क्या हमारी व्यवस्थाएँ लोगों को शीघ्र और सस्ता न्याय कभी दे पायेंगी ? इसके लिए ठोस कदम सरकारें उठायेंगी ? आखिर कब तक इंतजार करना पड़ेगा ?

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश आर.एम.लोढा ने एक मुकदमे की सुनवाई के दौरान सरकारी वकील से कहा कि न्याय में देरी का सारा दोष न्यायाधीशों पर लगाना उचित नहीं है । इसके लिए सरकार को उच्च न्यायालय स्तर पर न्यायाधीशों की संख्या बढानी पड़ेगी ।

अगर ऐसी ही बात है तो सरकार क्यों नहीं चाहती कि न्याय शीघ्र मिले ? क्या सरकार के पास न्यायाधीश नहीं है ? या ईमानदार, प्रामाणिक न्यायाधीश नहीं मिल रहे ये सवाल है !

सुन्दर सजे हुए अदालत के कमरों में धरती के सामान्य स्तर से उपर उठे हुए प्लेट फार्म पर बैठे जज, उनकी काली और सफेद रंगों के मिलान से चमकती हुई वेशभूषा, अदालतों के बाहर अंग्रेजी में शान बिखेरते वकील की जमात को देखने मात्र से दुनिया का कोई भी आदमी कभी प्रसन्न नहीं हुआ ! और हो भी कैसे सकता है ?

अदालतों से निकलते हुए जब भी कभी आम आदमी प्रसन्न होता नजर आए तो समझो शायद उसे न्याय की प्राप्ति हुई है । परंतु इसके साथ ही जब ज्यादा छानबीन करोगे तो संभवतः अक्सर आपको यह भी महसूस होगा कि उसकी न्याय की प्रसन्नता क्षणिक ही थी क्योंकि इस न्याय को प्राप्त करने में उसे कितना धन और कितनी सारी शक्ति को खर्च करना पड़ा । इसका लेखा-जोखा लगायेंगे तो प्रसन्नता को गमगीनी में तब्दील होते देर नहीं लगेगी । क्या ऐसे न्याय को वास्तविक न्याय कहा जायेगा ? ये सवाल है । आज के न्यायालय अन्याय का लगभग पर्याय बनते नजर आ रहे हैं । 'दिया तले अंधेरा' कहावत न्यायालयों पर फिट बैठती नजर आती है । कई बार अदालतों पर मुकदमों का बढ़ता बोझ निपटारे की गति से बहुत अधिक है । इसलिए अब तो यह विचार करना चाहिए कि अदालतों को वर्ष के ३६५ दिन कार्य करने के लिए किस प्रकार तैयार किया जाए ! ये बात सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति श्री आर.एम.लोढा ने भी अपने एक भाष्य में कही थी । और

वास्तव में उनके इस उमदा विचार को अमल में लाया जाना चाहिए ।

जब रेल्वे सुविधा, हवाई सेवा, बस सेवा, सड़क परिवहन सेवा, पैट्रोल डिजल सेवा, अस्पताल सेवाऐं ३६५ दिन, चौबीसों घंटे प्रतिदिन उपलब्ध हैं तो न्याय पाने की उम्मीद, आकांक्षा रखनेवालों के लिए भी ३६५ दिन २४ घंटे न्यायालय खुला रहना चाहिए । अन्याय सहन करनेवालों के लिए कितना कठिन है पल पल बिताना, एक-एक दिन काटना ! विचाराधीन बंदी किस तरह एक-एक दिन वर्षों-वर्षों तक जेलों में सजा काटते हैं और लंबे समय के बाद छूटते हैं । उनकी सजा से भी अधिक समय तक वे जेलों में समय काट चुके होते हैं, इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे । ये न्याय प्रक्रिया पर सवाल खड़े करता है ।

कार्य दिवसों के संबंध में खुद सर्वोच्च न्यायालय की हालत यह है कि वर्ष के ३६५ दिन में से यहाँ लगभग १९३ दिन कार्य चलता है । उच्च न्यायालयों में कार्य दिवसों की संख्या इससे कुछ अधिक है जो वर्ष में २१० दिन कार्य करते हैं । जिला स्तर की अदालतें वर्ष में २४५ दिन कार्य करती हैं । इन परिस्थितियों में सारे देश में लंबित मुकदमों का निपटारा कैसे किस तरह संभव है ? हरगिज नहीं ! इसीलिए न्यायालयों को ३६५ दिन चालू रहना चाहिए ।

न्याय व्यवस्था कार्य पालिका को दोष देती है, और

कार्यपालिका न्याय व्यवस्था को । दोनों मिलकर वकीलों को दोष देते हैं तो वकील देरी का सारा ठीकरा अपने मुवक्किलों पर और न्यायाधीशों पर फोडते हैं । परन्तु वास्तविकता यह है कि न्याय में देरी हमारे देश में एक गंभीर चुनौती बनी हुई है । लंबित मुकदमों की बचती संख्या के कारण सरकार को इनके निपटारे के लिए तरह-तरह के ट्रिब्युनल तथा अन्य व्यवस्थाएँ खड़ी करनी पड़ रही है । यह एक प्रकार से नई न्याय व्यवस्था का निर्माण है । यह नई न्याय व्यवस्था पारम्परिक न्याय व्यवस्था की तरह स्वतंत्र नहीं रहती । इनका सीधा नियंत्रण सरकार के हाथ में रहता है । इसीलिए यह सभी वैकल्पिक व्यवस्थाएँ भी न्याय के नाम पर कारगर सिद्ध नहीं हो रही है । इसका मुख्य कारण यह है कि न्यायपालिका, कार्यपालिका, और विधायिका के साथ-साथ वकील समुदाय पुलिस और यहाँ तक कि आम जनता भी सच्ची न्याय संस्कृति से परिचित नहीं हो पाई ।

क्या हम सच्ची न्याय संस्कृति का निर्माण कर पायेंगे ? न्यायालयों को ३६५ दिन चालू करा पायेंगे ? त्वरित और सस्ता न्याय लोगों को दिला पायेंगे ?

ये संभव तो है परंतु इसके लिए सरकार को, कार्यपालिका, न्यायपालिका को अपनी संकल्प-बद्धता दिखाकर, इच्छाशक्ति दिखाकर इसे लागू करना चाहिये या फिर अहिंसक जन आंदोलन खड़ा करना चाहिए ! लोगों का भरोसा न्यायालयों पर से इसलिए भी खत्म होता जा रहा है कि कई न्यायाधीशों पर संगीन आरोप

न सिर्फ लगे हैं बल्कि सिद्ध भी हुए हैं ।

पंजाब एवं हरियाणा की पूर्व जस्टिस निर्मल यादव से जुड़ा नोट कांड पिछले दिनों काफी चर्चास्पद रहा ।

मामला यूँ था कि पंजाब एवं हरियाणा हाइकोर्ट के वकील संजीव बंसल ने मुंशी प्रकाश राम को कहा था कि १५ लाख रुपये (१३ अगस्त २०१७ को) जस्टीस निर्मल यादव के घर पहुँचाओ । मुंशी प्रकाशराम यादव गलती से रुपये लेकर सेक्टर-११, चंडीगढ में जस्टिस निर्मलजीत कौर के घर पहुँच गया जस्टिस निर्मलजीत कौर ने अपने नौकर से कहा - 'जाओ, थाने में पुलिस को शिकायत दर्ज करवाओ ।' नौकर ने सेक्टर - ११ थाना पुलिस, चंडीगढ में शिकायत दर्ज करवाई । बाद में यह केस सी.बी.आई के विशेष जज विमल कुमार की अदालत में चला गया ।

न्यायाधीश को लोग भगवान का स्वरूप मानते हैं और न्याय की अपेक्षा रखते हैं । जब इतने ऊँचे पद पर आसीन व्यक्ति भ्रष्टाचार में लिप्त हो तो स्वाभाविक है कि लोगों की आस्था न्यायालयों पर से खत्म होगी । सारे जज (न्यायाधीश) ऐसे नहीं होते । परंतु किसी एक या चुनिंदा न्यायाधीशों पर इस प्रकार के संगीन आरोप लगने से सम्पूर्ण न्यायतंत्र पर सवालिया निशान तो खड़ा होता ही है । आजकी न्यायपालिका भी बेदाग नहीं रही ये तो मानना ही पड़ेगा !

मार्कंडेय काटजू ने इलाहबाद हाइकोर्ट के एक जज के

खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोप लगाये थे और तत्कालीन चीफ जस्टिस एस.एच. कपाड़िया को इस जज के बारे में काफी शिकायतें मिली कि वह भ्रष्टाचार में लिप्त हैं । बकौल काटजू को जस्टिस कपाडिया ने पता लगाने को कहा । उस वक्त काटजू सुप्रीम कोर्ट में जज थे । कुछ दिनों बाद काटजू को एक फंक्शन में हिस्सा लेने इलाहाबाद जाना पड़ा । वहाँ इन्होंने ३ वकीलों से संपर्क किया तो उन वकीलों ने जज के एजेंटों के ३ मोबाइल नंबर दिये जिनकी सहायता से वह जज पैसे लिया करता था । दिल्ली वापस आने के बाद काटजू ने तीनों मोबाईल नंबर जस्टिस कपाडिया को दे दिये और कहा कि इन नंबरों को इंटैलीजैंस एजैंसी से कहकर टैप करवाना चाहिये । २ महिने बाद जस्टिस कपाडिया ने कहा कि नंबरों को टैप कराए जाने के दौरान हुई बातचीत से जज के भ्रष्टाचार में लिप्त होने की बात का खुलासा हुआ है । इसके बावजूद भी जज पर कार्रवाई नहीं हुई । सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टीस रहे मार्कंडेय काटजू ने कहा – ''मैंने उन्हें इलाहाबाद हाइकोर्ट के ५ जजों के नाम दिये जो गलत कामों में लगे थे । जस्टिस लाहोटी ने मुझसे पूछा क्या करना चाहिये ? मैंने कहा – ''उन जजों को हाइकोर्ट परिसर में नहीं घुसने देना चाहिए । इस पर जस्टिस लाहोटी ने कहा कि नहीं ऐसा मत करो, नहीं तो राजनीतिक दखल बढ जायेगा और वे राष्ट्रीय न्यायिक आयोग बना देंगे । फिर मैंने कहा कि आपको जो सही लगे वह कदम उठाइये । बाद में उन

जजों का तबादला कर दिया गया । ये बाते उन्होंने अपने ब्लॉग में भी लिखी है ।

काटजू ने पूर्व मुख्य न्यायाधीश के.जी. बालाकृष्णन पर भी आरोप लगाया कि मद्रास उच्च न्यायालय के एक भ्रष्ट न्यायाधीश को उन्होंने शीर्ष न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) का न्यायाधीश बनाने की वकालत की थी ।

अब आप ही सोचिए, जिस देश के न्यायालयों में ऐसे न्यायाधीश हों वहाँ क्या और कैसा न्याय मिलेगा !

अगर सामान्य नागरिक या सरकारी अधिकारी उनके जैसा आचरण करे तो उस पर केस दर्ज हो जाए और सालों तक उसे सजा मिले, पर न्यायाधीश के ऊँचे ओहदे पर बैठकर वे कितना कुछ गैर कानूनी आचरण कर लेते हैं और पुलिस भी उन पर केस दर्ज करने से डरती है– ये एक सच्चाई है ।

(उपरोक्त घटना का संदर्भ पंजाब केसरी, १२–८–२०१४ (पेज नं. २) से साभार लिया गया है ।)

२१–८–२०१४ को पंजाब केसरी के प्रथम पृष्ठ पर छपी ये खबर कि बम्बई उच्च न्यायालय ने एक सत्र अदालत के न्यायाधीश को महिलाकर्मी का यौन उत्पीड़न करने के आरोप में निलंबित कर दिया है । यह दक्षिण मुम्बई में विशेष 'नारकोटिक्स ड्रग्स एंड साइकोट्रोपिक्स सल्सटांसेज एक्ट' अदालत के पीठासीन न्यायाधीश एम.के.गायकवाड हैं जिन्हें वर्ष २०१४ के १४ अगस्त को निलंबित किया । अगर कोई अन्य नागरिक होता तो उसे

जेल जाना पड़ता ! भ्रष्ट न्यायाधीशों के आचरण-व्यवहार से न्यायालय को समय-समय पर बदनाम होना पड़ता है और लोगों का विश्वास न्यायालयों पर से उठता जा रहा है ।

एक और घटना है गुजरात की । २०१४ के सितम्बर महिने की ये घटना है । एक शादीशुदा न्यायाधीश की प्रेम कहानी सामने आयी है । इस न्यायाधीश ने अपनी एक सहपाठी को ६ महिने के भीतर २०,००० कोल्स की और साढे चार हजार एस.एम.एस. भेजे । जब कोई रिस्पोंस नहीं मिला तो ये जज साहब एक दिन लड़की के घर पहुँच गए । इस मामले में सूरत के उमरा पुलिस स्टेशन में सितम्बर २०१४ में शिकायत दर्ज की गई ।

ये न्यायाधीश बड़ौदा में तैनात थे । कॉलेज के दिनों से ही इस युवती को चाहते थे लेकिन बात आगे नहीं बढ पाई । कॉलेज से निकलने के बाद दोनों के बीच कभी मुलाकात नहीं हो पाई । इस बीच न्यायाधीश का विवाह भी हो गया । एक दिन उन्हें पता लगा कि उनकी प्रेमिका सूरत में है । उन्होंने किसी तरह इस युवती का मोबाइल नंबर पता कर लिया । उसके बाद हर रोज उसको फोन करने लगे । जज साहब को जब मौका मिलता इस लड़की को फोन करते, एस.एम.एस. भेजते । जज के इस रवैये से लड़की के परिवार वाले भी परेशान थे ।

आखिरकार ये न्यायाधीश महोदय उस लड़की के घर पहुँच गए और लड़की साथ ले जाने का आग्रह करने लगे और

अड़ गये । उन्हें किसी तरह आसपास वालों ने समझाया । इस घटना से युवती काफी घबरा गई और उसने उमरा पुलिस थाना सूरत में २० नवम्बर को शिकायत दर्ज करा दी ।

आरोपी न्यायाधीश ने सूरत कोर्ट में हलफनामा दाखिल करके माफी मांग ली और अग्रिम जमानत ले ली । पुलिस ने मामले की गंभीरता को देखते हुए जमानत रद्द करने के लिए गुजरात हाइकोर्ट में अरजी लगाई हाइकोर्ट ने सूरत कोर्ट के आदेश को कायम रखने के आदेश दिये ।

अगर कोई सामान्य नागरिक ऐसा करता तो क्या सेशन्स कोर्ट या हाइकोर्ट उसकी अग्रिम जमानत दे देते ? हरगिज नहीं । ये न्यायालयों द्वारा किया जात भेदभाव वाला व्यवहार लोगों के मन में न्यायालयों के प्रति विश्वास को हिलाकर रख देता है और शंका पैदा करता है ।

आपसी रंजिश की वजह से कोई लड़की किसी पर मनगढंत १० साल पुरानी कहानी गढकर बलात्कार का केस दर्ज करवाती है तो पुलिस पकड़कर पुछताछ करती है । न्यायालय अग्रिम जमानत रद्द कर देता है और उसे सालों तक जेलों में रहना पड़ता है । मेरा (नारायण साँई) केस इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । यहाँ तक कि सुप्रीम कोर्ट तक जमानत मंजूर नहीं होती । १० वर्ष बाद बलात्कार की शिकायत में अग्रिम जमानत न देना, रेग्युलर जमानत याचिका भी मंजूर न करना क्या दर्शाता है ? क्या हाइप्रोफाइल लोगों से न्यायाधीशों को मोटी रकम पाने की

अपेक्षा है ? और जब तक मोटी राशि नहीं मिलेगी तब तक इस प्रकार उनकी जमानत याचिकाएँ केस में दम न होने के बावजूद खारिज होती रहेगी ? मैंने व मेरे पिता (संत आशाराम बापू) को एक ही जैसे केसों में फँसाना – राजनितिक साजिश मात्र है और फिर जमानत ना देना, न्यायालयों पर एक तरह का राजनीतिक दबाव है ये स्पष्ट रूप से दिखाई देता है ।

देश के पूर्व प्रधान न्यायाधीश (सी.जे.आई) पी. सदाशिवम् को शीला दीक्षित की जगह केरल का राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया । न्यायाधीशों को लगता है कि राजनीतिज्ञ लोगों का कहना मानने से या उनके कहे अनुसार फैसला देने से रिटायर्ड होने के बाद भी हमें कोई महत्वपूर्ण पद मिल जायेगा । सरकार राज्यपाल बना देगी । इसी लालच में आकर वे सरकार के दबाव में आकर फैसले दे देते हैं, जो उन्हें नहीं देने चाहिए । क्या इसे निष्पक्ष न्याय कहेंगे ?

संत आसारामजी बापू व मेरी (नारायण साँई) जमानत क्या सरकारी दबाव के कारण नहीं हो रही है ? क्या जमानत देनेवाले न्यायाधीशों पर भी सरकार का दबाव या हस्तक्षेप है इसीलिए जमानत नहीं हो रही है ? यह सवाल बुद्धिमानों को झकझोर रहा है । और यही मुख्य कारण है कि हम लंबे समय तक कारावास भुगत रहे हैं ।

सर्वोच्च न्यायालय के सेवा निवृत्त ईमानदार न्यायाधीश के.टी.थोमस ने कहा है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च

न्यायालयों के सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को किसी न्यायिक आयोग को छोड़कर दो साल तक किसी भी अन्य पद से बिल्कुल दूर ही रहना चाहिये ।

उन्होंने यह टिप्पणी पी.सदाशिवम् (चीफ जस्टीस ऑफ सुप्रीम कोर्ट) को केरल के राज्यपाल बनाये जाने के संबंध में की ।

थोमस ने कहा – ''मेरी राय है कि सेवानिवृत्ति के बाद कोई भी पद स्वीकारने से पहले २ साल का विराम होना चाहिए क्योंकि न्यायिक पद संवेदनशील होते हैं ।'' थोमस सर्वोच्च न्यायालयों में ६ वर्ष तक सेवाएँ देने के बाद २००२ में निवृत्त हुए । उनका यह कहना बिल्कुल ठीक है ।

न्यायालय एक तरह से न्याय की उम्मीद रखनेवालों के लिए भूल भूलैया बनते जा रहे हैं ।

एक व्यक्ति को न्याय दिलाने के लिए कई व्यक्तियों के साथ होते अन्याय की अनदेखी कर दी जाती है ।

लंबे समय की सजा सुनाकर कैदियों के निर्दोष परिवारों के साथ होते घोर अन्याय पर न्यायालय असंवेदनशील ही नजर आये हैं । विदेशों की जेलों में जो सुविधाऐं मिलती हैं उससे आधी सुविधाएँ भी हमारे देश की सरकारें दे नहीं पाई हैं ।

नोर्वे की जेल विश्व में प्रथम स्थान पर हैं । भारत की जेलों के जेल मैन्युअल पुराने हैं, कड़े हैं ।

अभी जो भारत की सभी जेलों को चलाने के लिए चल

रहा है वह सन् १८९६ का जेल मैन्युअल है जो कि अंग्रेजों द्वारा बनाया गया था । अब देखो भारत १९४७ को स्वतत्र हुआ, अंग्रेज चले गए, परंतु अफसोस कि भारत की जेलों में अब भी अंग्रेजों का बना हुआ जेल मैन्युअल अभी तक चालू है । भारत की जेलों में बंद विचाराधीन आरोपीयों/ कैदियों को अंग्रेजों के बनाए नियमों के आधार पर ही रखा जाता है । क्या ऐसा स्वतंत्र भारत में होना चाहिए ?

आजादी मिल गई तो अब तक जेल मेन्युअल में संशोधन क्यों नहीं हुए ?

भारत की जेलों में कई कैदी अब तक आत्महत्या कर चुके हैं । दुनिया की अन्य जेलों में परिवार सहित रहने की व्यवस्था है, सुविधा है । मुलाकात में एक-दूसरे को स्पर्श करने की, आलिंगन करने की भी छूट है क्योंकि इससे संवेदनशीलता बरकरार रहती है जबकि यहाँ भारत में इस तरह की विचारधारा रखना भी बुरी नजर/भाव से देखा जाता है । आखिर इस दृष्टिकोण को हमें बदलना ही पड़ेगा, परिवर्तन करना ही पड़ेगा ।

कानून बनाने में तो हम जल्दी बाजी करते हैं और न्यायालयों की व्यवस्था वकीलों-जजों की वेशभूषा में तो विदेशों का अनुकरण करते हैं पर जेलों की व्यवस्थायें हम अभी तक ग्रामीण बने हुए हैं । विदेशों की जेलों में जो परिवर्तन - सुविधाएँ-आधुनिकता के साथ-साथ हुए हैं ।

वो अब तक भारत की जेलों में नहीं हो पाए हैं । कहा तो जाता है जेल सुधारगृह है लेकिन इन जेलों द्वारा हुए बिगाड़ व बरर्बादी इतनी अधिक हुई है कि इसे सुधारगृह कहना या मानना ही अब हास्यास्पद हो गया है । कई जेलों में भ्रष्टाचार व्याप्त है कैदियों को मिलने वाली छोटी-छोटी व्यवस्थाएँ/सुविधा के लिए भी तरसना पड़ता है व रुपये खर्च करने पड़ते हैं । अवश्य हमें सुधार के लिए जेल के अलावा अतिरिक्त विकल्पों को तलाशना होगा ।

भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से चले न्यायपालिका

जैरमी बैंथम ने अपने उपयोगितावाद के सिद्धांत में कहा था कि अपराधी को उतनी ही सजा मिलनी चाहिए जितना कि उसे किसी अपराध को करने में फायदा हुआ हो । उनके पूर्व इमैन्युअल कांट का कहना था कि अपराधी को उसके कृत्य के बदले वैसे ही सजा दी जानी चाहिये जैसा कि अपराध हो । यानी मौत के बदले मौत । इसे बदले की भावना का सिद्धांत या 'रेट्रीब्यूटिव' कहते हैं ।

हमारे देश सहित सभी आधुनिक न्यायिक व्यवस्थाओं में कैदियों को बैंथम के सिद्धांत के अनुरूप ही सजा मिलती है ।

इस सिद्धांत के अनुरुप दी गई सजा से मानसिक परिवर्तन या सुधार हुआ हो ये देखा नहीं गया है । मतलब बैंथम के सिद्धांत के अनुरूप दी गई सजाऐं कैदियों के मानसिक परिवर्तन, को कराने में सफल नहीं हुई हैं । ये एक सच्चाई है ।

अतः हमारे भारत में सजा देने की न्यायिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन संशोधन करने की आवश्यकता है । ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जो बैंथम और कांट के सिद्धांतों के बीच की हो । या भारत की प्राचीन न्यायिक व्यवस्थाएँ लागू हो ।

भारत की जेलें 'लाइफ वेस्ट-टाइम वेस्ट युनिवर्सिटी' या 'क्राइम युनिवर्सिटी' बन गई हैं । इसके बदले 'स्किल डेवलपमैंट युनिवर्सिटी के रुप में विकसित होनी चाहिए । ताकि जेल से निकलने के बाद वे समाज के लिए उपयोगी/उद्योगी बन सके ।

पढें श्री विमल विधावन का लेख **सजा देने की बजाय अपराधी को 'सुधारना' अधिक महत्वपूर्ण (पंजाब केसरी, ३०/७/२०१५, पानीपत संस्करण, पेज ६ ।)**

नाम न छापने की शर्त पर पच्चीस साल से सजा भुगत रहे एक कैदी ने कहा जेल कहने को तो सुधार गृह है लेकिन इससे बड़ा शायद ही बिगाड़ गृह हो । मानना पड़ेगा कि जिन उद्देश्यों को लेकर जेल व्यवस्था बनी थी उन उद्देश्यों की पूर्ति ही खत्म हो गई ।

भूतपूर्व कानूनमंत्री कपिल सिब्बल का मानना है कि न्यायपालिका पर जिम्मेदारीयों का बोझ है । इसके लिए न्यायपालिका में बड़े बदलावों की जरुरत है । इसके लिए शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता में सुधार जरुरी है ।

सिब्बल मानते हैं कि लंबित केसों की वजह से न्यायपालिका पर प्रश्न चिन्ह खड़ा होने लगता है । इसके लिए वे सुझाव देते

हैं कि हर क्षेत्र चाहे वो उद्योग हो, एजूकेशन हो, सामाजिक हो, सभी में वकीलों का पैनल होना चाहिए जिससे केसों को समझौते के आधार पर निपटाने में मदद मिले ।

अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी करीब ९० प्रतिशत फसलों का निपटारा भाइचारा व ए.डी.आर. सैंटर (विवाद समाधान केन्द्र) खोलकर इस व्यवस्था के माध्यम से किया जाता है । भारत में भी ऐसी व्यवस्थाऐं हर राज्य में बननी चाहिए ।

हरियाणा में २०१३ में वैकल्पिक विवाद समाधान केन्द्र का शिलान्यास, किया गया । इसमें मुकदमे बाजी में उलझे तथा अदालतों में जाने से पहले लोगों को शीघ्र, सस्ता और आसानी से सुलभ न्याय मिले इस उद्देश्य से हरियाणा विधिक सेवा प्रधिकरण की ओर से स्थापित लोक अदालतें, स्थायी लोक अदालतें और कानूनी जागरुकता शिविरें उमदा प्रयास है ।

इसका लाभ उठाकर लोगों के समय व धन की बचत होती हैं । ऐसी सभी सेवाओं को एक ही छत के नीचे मुहैया करवाने के उद्देश्य से हरियाणा के सभी जिलों में वैकल्पिक समाधान केन्द्रों की स्थापना अच्छी सकारात्मक पहल है ।

उद्देश्य होना चाहिए हमारे कानून मंत्रालय का, सरकार का, न्यायालयों का कि ''एक्सैस टू जस्टिस फोर ओल'' (कानून सबके लिए)

भारत की जनता चाहती है केसों का शीघ्र निपटारा, त्वरित

न्याय । हमारी व्यवस्थाएँ उनकी इस मंशा को पूर्ण करने में अब तक विफल रही है यह दु:ख की बात है । इब इसमें सुधार होना चाहिए ।

इस समय सुप्रीम कोर्ट तथा हाइकोर्ट में लंबित केसों की संख्या ३ करोड़ के अस्वीकार्य स्तर से भी उपर जा पहुँची है ।

जानकारों का कहना है कि जिस रफ्तार से केसों की संख्या में वृद्धि हो रही है उस हिसाब से तो सन् २०४० तक सुप्रीमकोर्ट व उच्च न्यायालयों में लंबित केसों की संख्या १५ करोड़ से भी अधिक हो जायेंगी ।

''इंटरनैशनल कोर्ट ऑफ जस्टीस'' के भारतीय सदस्य जस्टिस दलवीर भंडारी ने भारतीय न्याय प्रणाली को घिसी-पिटी करार देते हुए कहा है कि इस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है और यदि हमें देश में लोकतंत्र को जिन्दा रखना है तो यहाँ सर्वोच्च प्राथमिकता के आधार पर न्यायिक सुधार करने होंगे ।

उनके अनुसार ''जनता फैसला चाहती है पर क्या किसीने न्याय में होनेवाले विलंब का कारण जानना चाहा ? आज भारत में १० लाख केसों के लिए भारत में १० जज हैं जबकि अमेरिका में इतने ही केसों के लिए १०७ हैं जज हैं और ऑस्ट्रेलिया में ८७ हैं । जिस जज पर १००-१०० केसों की सुनवाई करने का बोझ होगा, आप उससे किसी चमत्कार की आशा नहीं रख सकते । **(देखें पंजाब केसरी २९-५-२०१३)**

विजय कुमार लिखते हैं कि एक ओर जहाँ अदालतों पर मुकदमों का भारी बोझ है, वहीं अदालतों में होनेवाली लम्बी छुट्टियों के कारण इनमें और भी वृद्धि हो रही है । इसी कारण एक एडवोकेट के. श्याम सुंदर ने मद्रास हाइकोर्ट में दायर जनहित याचिका में सवाल उठाया है कि ''**आपके जमाने में जब अदालतें वातानुकूलित हो चुकी हैं और जजों की कारें और आवास भी वातानुकूलित हैं क्या हाइकोर्ट गर्मी की छुट्टीयों का कोई औचित्य है ?**''

याचिकाकर्ता ने इन छुट्टीयों को अंग्रेजों के दौर की देन बताते हुए उन्हें बिल्कुल गैरजरूरी करार दिया और कहा कि ''गर्मियों, दशहरा, तथा क्रिसमस पर होनेवाली छुट्टीयों का सिलसिला शीघ्रातिशीघ्र बंद होना चाहिए ।'' अदालत गर्मियों की छुट्टियों का सिलसिला अंग्रेजों के जमाने में शुरु किया गया था । तब आज जैसी सुविधाऐं नहीं थी । अंग्रेज न्यायाधीश गर्मी बर्दाश्त नहीं कर पाते थे परंतु आज प्रौद्योगिकी अत्यंत उन्नत हो चुकी है और इस कारण गर्मियों की लंबी छुट्टीयाँ अप्रासंगिक हो चुकी हैं ।

याचिकाकर्ता ने कहा है कि हाइकोर्ट वर्ष में २१० दिन काम करते हैं और गर्मियों में एक महिने की छुट्टी के अलावा २२ घोषित अवकाश, १० दशहरे के अवकाश और ८ क्रिसमस के व नए साल के उपलक्ष्य में छुट्टियाँ होती हैं । याचिकाकर्ता

ने न्यायालयों की छुट्टियों को जन-विरोधी लोकतंत्र विरोधी और न्यायविरोधी 'करार देते हुए कहा है कि अकेले तमिलनाडु में ही विभिन्न चरणों पर ५ लाख केस लंबित पड़े हैं । उसने भारतीय विधि आयोग की २००९ की रिपोर्ट का हवाला भी दिया है जिसमें कहा गया था कि '' काफी समय से समूचे देश में कार्य संस्कृति का क्षरण होता चला आ रहा है । यही समय है कि अब न्यायाधीशों को न्यायिक कार्यों के लिए अपना पूरा समय देना चाहिए और ऐसी किसी भ्रांति में नहीं रहना चाहिए कि वे लोर्ड (महामहिम) अथवा समाज से उपर हैं । ''उन्होंने हाइकोर्ट के पूर्व न्यायाधीश के. चन्द्रू का वह कथन भी उध्दृत किया जिसमें उन्होंने कहा था कि ''**अदालतों द्वारा वर्ष में मात्र २१० दिन काम करना साफ तौर पर मानवीय संसाधनों की घोर बर्बादी है ।**''

उपरोक्त बातें समूचे देश की अदालतों पर लागू होती हैं और यदि छुट्टियों में कमी कर दी जाए तो देश में लंबित मुकदमों में कमी अवश्य आयेगी । लोगों को शीघ्र न्याय मिलेगा । इसके साथ ही लम्बे समय से चली आ रही जजों की कमी को भी पूरी करने की जरुरत है । यदि ऐसा न हुआ तो लोगों में बैचैनी बढती जाएगी । न्यायिक प्रक्रिया पर भरोसा उठता जायेगा और यह अंततः हमारी न्यायिक प्रणाली व लोकंतत्र के लिए अत्यंत हानिकारक सिद्ध होगा !

लोक अदालतों से शीघ्र केसों का निपटारा होना भी अच्छी

पहल है । लेकिन इन लोक अदालतों में छोटे-छोटे केसों का समझौता होता है । बड़े केसों का या सभी केसों का निपटारा भी लोक अदालतों के माध्यम से होना चाहिए ।

अब ऐसे केसों की संख्या बढती जा रही है जो बलात्कार या छेडछाड से जुड़े हैं । बहुचर्चित निर्भया कांड के बाद जल्दी बाजी में बनाये गये नारी सुरक्षा के लिए बने बलात्कार के कडे कानूनों (पोक्सो एक्ट आदि) का भी दुरुपयोग होने की घटनाएँ बढती जा रही हैं । मानना पड़ेगा कि कानून बनाने से अपराधों में कमी नहीं आती ये एक कडवी सच्चाई है ।

बल्कि इन कानूनों का दुरुपयोग करके ब्लैकमेल करनेवालों की अधिक सक्रियता हो जाती है ये एक दूसरा वास्तविक पहलू है । यहाँ हम कुछ घटनाओं पर नजर डालें जो उदाहरण के रुप में पेश हैं - उससे पहले ये बताना जरुरी है कि सरकारी कर्मचारी या अधिकारी या न्यायिक व्यवस्थाओं से जुड़े लोगों पर भी ऐसे बलात्कार के संगीन आरोप लगे हैं फिर भी उनको कोई आंच नहीं आई । ये असमान न्याय लोगों के मन में न्याय के समान सिद्धांत पर सवालिया निशान पैदा करता है !

पानीपत से प्रकाशित पंजाब केसरी अखबार में (१०-२-२०१४) में विजयकुमार लिखते हैं कि ''यह भी विडम्बना है कि दिल्ली में ही १० वर्षों के दौरान लगभग १०० पुलिस कर्मचारी बलात्कार व छेड़छाड़ तथा सामूहिक बलात्कारों तक में शामिल पाये गए । इनमें से अधिकांश पुलिस कर्मचारी न सिर्फ जमानत

पाने में सफल हो गए बल्कि अभी भी दिल्ली पुलिस में तैनात हैं ।

आर.टी.आई. के अंतर्गत प्राप्त जानकारी के अनुसार २००९ से २०१३ के बीच पुलिस कर्मचारियों के बलात्कार में संलिप्त होने के मामलों में भारी वृद्धि हुई है और कार्रवाई के नाम पर पिछले वर्ष पहली बार सिर्फ २ पुलिस कॉन्स्टेबलों अमित तोमर तथा गुरजिन्द्रसिंह को एक नाबालिक लड़की का बलात्कार करने के आरोप में गिरफ्तार करके बर्खास्त किया गया था । **(देखिए पंजाब केसरी १०-२-२०१४)**

अगर मैं (नारायण साँई) और मेरे पिता आशाराम बापू पुलिस में होते तो क्या हमें (हम दोनों को) जेल जाना पड़ता ? मतलब इतने समाजसेवा के कार्य इतने वर्षों तक करने के बावजूद भी न्यायालय ने किसी प्रकार की नरमी नहीं दिखाई । किसी जज के खिलाफ ऐसे बलात्कार के संगीन आरोप लगते हैं तो जांच आयोग गठित होता है । SIT बनाई जाती है और हजारों-लाखों लोगों को सत्संग-प्रवचन से आध्यात्मिक मार्ग की ओर मोडनेवाले संत के साथ एक आरोप लगानेवाले न्यायाधीश से भी गिरे हुए स्तर का व्यवहार किया जाता है - ये भेदभाव वाला बर्ताव न्यायप्रक्रिया पर विश्वास को हिलाकर रख देनेवाला है । क्या भारत के किसी भी न्यायाधीश में इतनी हिम्मत या योग्यता है कि जो काम संतों ने किया है उसका २०% काम भी कर सके ? करके दिखाये ? बिना अपने पद

का उपयोग किए बिना स्वतंत्र रूप से एकाध-दो आश्रम समाज के धन से बनाकर दिखाए, समाज सेवा के कार्य अपने बलबूते पर करके दिखाए, समाज का इतना विश्वास जीत पाये या अपनी तन्ख्वाह से समाज की परेशानियों को हल करके दिखाए, हजारों को व्यसन मुक्त करके दिखाए ! क्या न्यायाधीश का पद एक समाज सेवा से जुड़े हुए संत महापुरुष से ऊँचा है ?

कानून ये कहता है कि किसी भी व्यक्ति को सुधार गृह (जेल) में तब भेजना चाहिए जब उसके सुधार की कोई गुंजाइश न बचे क्योंकि सुधार गृह ये आखरी स्टेशन है । लॉ की पुस्तक (संविधान) में ये लिखा है - सुधारगृह भेजने से पहले और भी स्टेशन अर्थात् विकल्प (ऑप्शन) हैं जहाँ उसमें सुधार हो सकता है । जब अन्य सारे विकल्प न बचे तभी उसे सुधार गृह (जेल) भेजना चाहिए । आजके न्यायालय इस कानून को तो भूल ही गये हैं । या इस कानून पर विश्वास ही नहीं करते और इसीलिए देखो कि सुधारगृह (जेलें) लाखों करोड़ों कैदियों, विचाराधीनों से भरी पड़ी है ।

इस संदर्भ में पंजाब केसरी पानीपत संस्करण में छपा **(दि. २५-१०-२०१५, पेज-६)** विजय कुमार द्वारा लिखित यह लेख अवश्य पढें ।

अदालतों के गलत फैसलों से १०,००० से अधिक निर्दोष जेलों में

हमारे भारत की अदालतों में विश्व के सर्वाधिक ३ करोड़

से भी अधिक मामले लंबित हैं । जून २०१४ के अंत तक सर्वोच्च न्यायालय में ६५००० से अधिक व २४ उच्च न्यायालयों में ४५ लाख मामले लंबित थे जो औसतन प्रति उच्चन्यायालय २ लाख के लगभग हैं और इनमें बड़ी संख्या विचाराधीन (अंडर ट्रायल) कैदियों की है ।

उच्च न्यायालयों में लंबित फौजदारी के १०.३ लाख केसों में से अकेले इलाहाबाद हाइकोर्ट में ही ३.५ लाख केस हैं ।

यदि इनमें से एक प्रतिशत आरोपी भी निर्दोष हों तो देश में १० हजार से भी अधिक आरोपी गलत ढंग से दंडित किये जाने के कारण सजा काट रहे हैं ।

हालत ऐसी है कि गलत तौर पर आरोपित व्यक्ति अपील करके भी जल्दी न्याय की आशा नहीं रख सकता । इलाहाबाद हाइकोर्ट में किसी अपील पर फैसला होने में ३० वर्ष तक का समय लग जाता है ।

राजस्थान उच्च न्यायालय में भी १९८५ से फौजदारी मामले लटक रहे हैं जबकि बॉम्बे हाइकोर्ट में भी किसी अपील के फैसले में २ से २० वर्ष लग जाते हैं । अपील पर फैसले की अवधि का राष्ट्रीय औसत समय ४ से ७ वर्ष है ।

ज्यादातर मामलों में गंभीर अपराधों के नाम पर गलत ढंग से दोषी करार लोगों की अपीलों को फैसला होने तक वे अपने जीवन की बेहतरीन अवधि जेल में या जेल के बाहर जमानत पर

तनाव में रहकर बिता चुके होते हैं । भारत में पीडित को क्षतिपूर्ति देने का भी प्रावधान नहीं है जबकि अनेक विकसित देशों में भारी भरकम क्षतिपूर्ति दी जाती है ।

१९८२ में गोंडा के 'अयोध्या' को हत्या व डकैती के आरोप में सजा सुनाई गई थी । उसकी अपील पर २०१५ के सितम्बर में फैसला सुनाते हुए न्यायालय ने उसे निर्दोष घोषित कर बरी कर दिया । यदि वह अपील न करता तो दो वर्ष पहले ही सजा पूरी करके घर जा सकता था । निर्दोष होने के बावजूद उसे जेल में तथा जेल के बाहर जमानत पर हत्यारे व डाकू का कलंक सहते हुए ३० वर्ष बिताने पड़े । क्या आप इसे न्याय कहेंगे कि घोर अन्याय कहेंगे ?

इसी प्रकार आंध्र प्रदेश की 'केनम अंजमा' और उनके पति को २००७ में अपने पड़ोसी की हत्या के आरोप में हवालात में बंद कर दिया गया और उन्हें ८ साल बाद राजस्थान उच्च न्यायालय ने बाइज्जत बरी कर दिया गया । अब ८ साल तक इसने जो सजा भुगती निर्दोष होने के बावजूद भी इसकी क्षतिपूर्ति के लिए कोई जिम्मेदार नहीं ? क्या इसे न्याय कहेंगे ? या घोर अन्याय का उदाहरण ? क्या इसे क्षतिपूर्ति नहीं मिलनी चाहिए ? २००४ में पति की हत्या के आरोप में गिरफ्तार की गई 'कविता शर्मा' व उसके प्रेमी को २००६ में निचली अदालत ने सजा सुनाइ । अब ११ साल जेल में बिताने के बाद राजस्थान उच्च न्यायालय ने उन्हें बाइज्जत बरी कर दिया है । क्या इनको

क्षतिपूर्ति नहीं मिलनी चाहिए ? न्याय में विलंब के ये कोई छिटपुट मामले नहीं, ये तो न्यायाधीशों की कमी और अन्य कारणों से होनेवाले असाधारण विलंब के उदाहरण मात्र हैं ।

सी.आर.पी.सी. की धारा ३५७ के अनुसार क्षतिपूर्ति देने का भी प्रावधान किया गया है परंतु वकील ठीक से बहस नहीं करते या न्यायालयों द्वारा क्षतिपूर्ति के आदेश दिये नहीं जाते जो कि निर्दोष बाइज्जत बरी होने पर दिये जाने चाहिए ।

(देखिये पंजाब केसरी पानीपत संस्करण पेज नं. १ दि. १-९-२०१५)

७ साल जेल में काटने के बाद मिला इंसाफ, हाइकोर्ट ने दिया निर्दोष करार !

जिन्दगी के ७ अहम साल जेल में काट चुके मो. अकबर और मो. अनवर को हत्या के मामले में पंजाब एवं हरियाणा हाइकोर्ट ने निर्दोष करार देते हुए उन्हें बरी करने के आदेश दिये हैं । इस मामले में हाइकोर्ट से गुहार लगाते हुए इन दोनों ने कहा था कि वे निचली अदालत के फैसलों को चुनौति देना चाहते हैं लेकिन वे इतने गरीब परिवार से हैं कि एडवोकेट हायर करने के लिए भी उनके पास पैसा नहीं है । पैसों की कमी के चलते वे अच्छा एडवोकेट नहीं कर पाये जिसके चलते वे अपना पक्ष सही तरीके से रख नहीं पाये और उन्हें उम्रकैद की सजा सुनाइ गई । (ऐसे उम्रकैद की सजा काटनेवाले सैंकड़ों-हजारों निर्दोष कैदी अनाथों की नाई आज भी भारत की विभिन्न जेलों में व्यर्थ

की सजा काट रहे हैं । पता नहीं कब, कौन, कैसे उन्हें छुड़ायेगा ?

हाइकोर्ट में लीगल एड के तहत एडवोकेट अनुज बालियान को इस केस की जिम्मेदारी सौंपी गयी थी । मामले में दोनों की ओर से उनका पक्ष रखते हुए बालियान ने उन्हें बरी करने की अपील की थी । जस्टिस टी.पी.एस. मान ने अपील को मंजूर करते हुए कहा कि दोनों को दोषी करार देने के लिए पर्याप्त सबूत साक्ष्य नहीं थे, ऐसे में उन्हें बरी किया जाना चाहिए । मामला २७ मार्च २००६ का था । और ये दोनों आरोपी ७ साल जेल में काटने के बाद बाइज्जत बरी किये गये ? क्या इनको क्षतिपूर्ति नहीं मिलनी चाहिये ? क्या ३६५ दिन न्यायालय नहीं चलने चाहिए ? समय पर जजों की नियुक्तियाँ न होना, कोर्टों में काम समय पर शुरु न होना, केसों को गंभीरता न देना और सरकारी वकीलों का ध्यान न देना – कितने-कितने निर्दोषों पर कैसे अन्याय करता है, इसका हिसाब लगाना मुश्किल ही नहीं, असंभव है । इसीलिए शीघ्रतिशीघ्र न्याय प्रक्रिया में बदलाव होना चाहिए । अधिकतम सजा १० वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए । बाइज्जत निर्दोष बरी होने पर क्षतिपूर्ति होनी चाहिए । न्यायाधीशों को समय पर आना व जाना चाहिए । केसों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहिए । जजों की नियुक्तियाँ बढानी चाहिए । ईमानदार, निःस्वार्थी, निर्लोभी जजों की नियुक्तियाँ होनी चाहिए । केसों की समीक्षा के लिए आध्यात्मिक व्यक्तियों

या संतों-महापुरुषों एन.जी.ओ. के सुझावों-सिफारिशों पर ध्यान देना चाहिए ।

जेलों में बंद कैदियों से वकीलों की मुलाकातें सुगम होनी चाहिए व उसका समय बढाना चाहिए ।

अब भारत की विभिन्न जेलों में बंद विचाराधीन कैदीयों पर आइये विचार करते हैं -

(देखिये पंजाब केसरी पानीपत संस्करण, पेज नं. ५, दि. २६-९-२०१५)

सर्वोच्च न्यायालय के फैसले
के बाद भी नहीं जागी सरकारें...

देश में इस समय ३ लाख ८१ हजार कैदी हैं जिनमें से ६६ प्रतिशत ऐसे हैं जिनके केसों का अभी निपटारा नहीं हुआ, यानी ऐसे कैदी विचाराधीन कैदियों की श्रेणी में आते हैं ।

वर्ष २०१४ के ५ सितम्बर को सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय में यह कहा था कि अगले २ माह के भीतर उन सभी विचाराधीन कैदियों को जेलों से रिहा कर दिया जाए जो अपराध के लिए आरोपित की गई अधिकतम सजा की आधी सजा भुगत चुके हैं ।

मजे की बात यह है कि केन्द्र सरकार के पास सर्वोच्च न्यायालय द्वारा तय की गई समय सीमा के बावजूद ऐसा कोई डाटा उपलब्ध ही नहीं है कि आखिर किस राज्य की कौन-सी जेल से कितने ऐसे पात्र विचाराधीन कैदियों को रिहा कर दिया

गया है या करना चाहिये ? वास्तव में यह दायित्व संबंधित राज्यों के जिला एवं सत्र न्यायाधीशों व मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को सौंपा गया था और कहा गया था कि आपराधिक दंड प्रक्रिया (सी.आर.पी.सी.) की धारा ४३६ ए में दिये गये प्रावधानों की अनुपालना के दृष्टिगत ऐसे कैदियों की रिहाई की जानी चाहिए ।

इतना ही नहीं, जेलों में ही जाकर बाकायदा विस्तृत आदेश पारित करके उन्हें रिहा भी करना था । चूंकि जेल विभाग सीधे तौर पर राज्य के आधीन आता है इसीलिए केन्द्र ने राज्यों पर यह विश्वास किया कि वहाँ से उचित डाटा इस बारे में मिल जायेगा कि आखिर कितने विचाराधीन कैदी किस राज्य ने रिहा किये हैं ?

सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के मुताबिक सी.जी.एम. एवं सैशन्स जज द्वारा अपने-अपने क्षेत्राधिकार में एक माह में कम-से-कम एक बार जेल का विजिट किया जाना था और यह प्रक्रिया पहली अक्टूबर २०१४ से शुरु होकर दो माह तक चलनी थी ताकि सी.आर.पी.सी. की धारा ४३४ ए का सख्ती से पालन किया जा सके ।

केन्द्र सरकार के द्वारा इस संबंध में हर राज्य को बार-बार स्मरण पत्र जारी किए गए और यह आंकड़े मांगे गए कि आखिर इस दिशा में क्या प्रगति हुई ? लेकिन केन्द्र को कहीं से भी कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई । कुछ राज्यों ने तो हास्यास्पद सूचना

केन्द्र को भेजी जिसमें कहा गया है कि इस प्रकार के आंकड़े राष्ट्रीय विधिक सेवाएँ प्राधिकरण (नालसा) के पास उपलब्ध हो सकते हैं । जो कि सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश की निगरानी में काम कर रहा है । यह ऐसी राष्ट्रीय संस्था है जिसकी हर राज्य में अलग से राज्य व जिला स्तरीय प्राधिकरण कानूनी सहायता प्रदान करने का काम कर रहे हैं । गृह मंत्रालय के सूत्रों के मुताबिक नालसा के पास यदि ऐसी कोई सूचना है भी तोवह सरकार को प्राप्त नहीं हुई है । कानूनी विशेषज्ञों का कहना है कि सी.आर.पी.सी. की धारा ४३६ ए के अंतर्गत अंडरट्रायल (विचाराधीन बंदीवान) कैदीयों के मामले में रिव्यू बहुत ही अनिवार्य है । उन्हें उसी समय रिहा कर दिया जाना चाहिए यदि वे ट्रायल के दौरान उस सजा की ५० प्रतिशत सजा काट चुके हों जिसके लिए वे आरोपित किये गए हैं । सर्वोच्च न्यायालय का यह आदेश पूरी निष्ठा व तत्परता के साथ लागू होना चाहिए परंतु अफसोस कि ये लागू नहीं हो पा रहा है और इस फैसले के बावजूद न जाने कितने हजारों-लाखों विचाराधीन कैदी जिन्हें अब तक रिहा हो जाना चाहिए जेलों में बेवजह सजा काट रहे हैं । आखिर इन कैदीयों के रिहाइ की नियमानुसार प्रक्रिया कब कैसे कौन लागू करेगा । यह बहुत बड़ा सवाल है ।

सी.आर.पी.सी. की धारा ४३६ ए के पालन के लिए सुप्रीमकोर्ट के आदेश के बावजूद उनका पालन न होना और हजारों-लाखों विचाराधीन कैदियों पर आधी सजा से अधिक

समय व्यतीत करने के बावजूद उनका रिहा न होना कितनी अव्यवस्थाओं को दर्शाता है ।

कि समझा जा रहा है कि कानूनी विधिक सेवाएँ प्राधिकरण ने इस कार्य को निपटाने के लिए अपने वकीलों का पैनल तैयार किया है जो जेलों में जाकर विचाराधीन कैदियों को 'प्ली ओफ बारगेनिंग' के बारे में जानकारी दे रहे हैं ताकि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार लाभ मिल सके । परंतु अभी तक कोई ठोस परिणाम आते हुए नजर नहीं आ रहे हैं ।

एक और बात कि केन्द्रिय कानून मंत्रालय ने राज्य सरकारों द्वारा 'इ-प्रिजन सॉफ्टवेयर' स्थापित किये जाने पर भी चिंता जतायी है । इससे पहले कि मंत्रालय इस आशय की जानकारी संबंधित उच्च न्यायालय को आगामी कार्रवाई के लिए दे, खास तौर पर उन राज्यों में जहाँ कमियाँ पाई गई हैं । मंत्रालय ने नालसा से संपर्क सादकर डाटा मांगा है ।

सवाल ये उठता है कि क्या सर्वोच्च न्यायालय ने जिस कार्य को २ महिने में पूर्ण करने के लिए कहा या वो कार्य राज्य सरकारें १ साल से अधिक समय हो गया, पूर्ण नहीं कर पायी हैं, क्या कैदियों को रिहा करने से राज्य सरकारों को कोई नुकसान है या फिर राज्य सरकारें जिन अधिकारियों को, मंत्रालयों को काम सौंपती हैं, वे काम नहीं करना चाहते हैं ? आखिर बात क्या है ? इसका विश्लेषण भी होना चाहिए । क्या ऐसे विचाराधीन कैदी जिन्होंने ५० प्रतिशत से अधिक सजा काट दी

हैं उनको शीघ्र रिहा करने के लिए क्या जन-आंदोलन करना होगा ? तभी ये हो पायेगा ?

भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश वी. एन. खरे का कहना है कि -

''देश की कोई भी सरकार न्यायपालिका को प्राथमिकता नहीं देती । जनसंख्या के अनुपात में न्यायाधीशों की संख्या के मामले में हमारा भारत देश विश्व के निकृष्टतम देशों में से एक है । अदालतें केवल 'स्टे' तथा अंतरिम आदेश पारित करती हैं जो मामलों के निपटारे में विलंब का कारण बनते हैं ।

एक वरिष्ठ वकील अमित देसाई का कहना है कि ''संविधान की धारा २१ के अंतर्गत जीवन का अधिकार किसी आरोपी द्वारा उसकी अपील की शीघ्र सुनवाई के अधिकार पर भी लागू होता है । अपील पर फैसले में असाधारण विलंब का मतलब उसे न्याय से वंचित करना व उसके मानवाधिकारों का हनन है ।''

उल्लेखनीय है कि यू.पी.ए.-२ सरकार के दिनों से ही न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार १९९३ से चली आ रही कालेजियम प्रणाली के अंतर्गत जजों के पास या जिसे उनसे लेकर राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को सौंपने सम्बन्धी विवाद के कारण नियुक्तियों का गतिरोध जारी था ।

अब १७ अक्टूबर २०१५ को सर्वोच्च न्यायालय ने मोदी सरकार द्वारा ६ महिने पूर्व की गई उक्त आयोग की नियुक्ति रद्द

करके कोलेजियम प्रणाली को ही बहाल रखने का आदेश दे दिया है जिससे यह गतिरोध समाप्त हो गया है ।

आशा करनी चाहिए कि अब न्यायालयों में शेष न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ शीघ्र होगी जिससे अदालतों में लंबित मामले निपटाने में कुछ सहायता मिल सकेगी । (देखिए, पंजाब केसरी, विजय कुमार द्वारा लिखित लेख - २५-१०-१५, पेज नं. ६, पानीपत संस्करण)

साथ ही देखें पंजाब केसरी, पानीपत संस्करण,३०-७-२०१५ पेज नं. ६ पर छपा विमल वधावन का लेख -

सजा देने की बजाय अपराधी को

'सुधारना' अधिक महत्वपूर्ण !

संदर्भ : ३-८-२०१५, पेज नं. ३ पंजाब केसरी (पानीपत)

(रेप का मामला दर्ज कराने की धमकी देकर दुकानदार से मांगे १० लाख रुपये ।

अब वकीलों के गिरते आचरण को

देखकर सुप्रीम कोर्ट ने फटकार लगाई है - ये कितनी चिंताजनक बात है ! देखिए -

पंजाब केसरी, पानीपत संस्करण, ३०-९-२०१५